जैन नीति-दर्शन की सामाजिक सार्थकता

जैन धर्म को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है, वे दो हैं- एक वैयक्तिक मुक्ति को प्रमुखता और दूसरा निवृत्ति-प्रधान आचार-मार्ग का प्रस्तुतीकरण। यह सत्य है कि जैन धर्म निवृत्तिपरक है और वैयक्तिक मोक्ष को जीवन का परम साध्य स्वीकार करता है, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि उसके नीतिदर्शन की कोई सामाजिक सार्थकता नहीं है, क्या एक भ्रांति नहीं होगी? यद्यपि यह सही है कि वह वैयक्तिक चरित्रनिर्माण पर बल देता है किन्तु वैयक्तिक चरित्र के निर्माण हेतु उसने जिस मार्ग का प्रस्तुतीकरण किया है, वह सामाजिक मूल्यों से विहीन नहीं है। प्रस्तुत निबन्ध में हम इन्हीं मूल प्रश्नों के सन्दर्भ में यह देखने का प्रयास करेंगे कि जैन नीतिदर्शन की सामाजिक उपादेयता क्या है?

क्या निवृत्ति सामाजिक विमुखता की सूचक है?

सर्वप्रथम यह माना जाता है कि जो आचार-दर्शन निवृत्ति परक हैं, वे व्यक्ति-परक हैं। जो आचार दर्शन प्रवृत्ति-परक हैं, वे समाजपरक हैं। पं. सुखलालजी भी लिखते हैं कि प्रवर्तक धर्म का संक्षेप सार यह है कि जो और जैसी समाज-व्यवस्था हो, उसे इस तरह नियम और कर्तव्यबद्ध करना कि जिससे समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा के अनुरूप सुख लाभ करे। प्रवर्तक धर्म समाजगामी है, इसका मतलब यह है कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर सामाजिक कर्तव्यों का, जो ऐहिक जीवन से संबध रखते हैं, पालन करे। निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है। निवर्तक धर्म समस्त सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता है। उसके अनुसार व्यक्ति के लिये मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह भी हो आत्मसाक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।[१] 'यद्यपि जैन धर्म निवर्तक-परम्परा का हामी है, लेकिन उसमें सामाजिक भावना से पराङ्मुखता नहीं दिखाई देती है। वह यह तो अवश्य मानता है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकाकी जीवन लाभप्रद हो सकता है, किन्तु साथ ही वह यह भी मानता है कि उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में भी होना चाहिए। महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है। बारह वर्षों तक एकाकी साधना करने के पश्चात् वे पुन: सामाजिक जीवन में लौट आए और चतुर्विध संघ की स्थापना की एवं उसको जीवन भर मार्गदर्शन देते रहे। वस्तुत: उनकी निवृत्ति उनके द्वारा किये जानेवाले सामाजिक-कल्याण में साधक ही बनी है, बाधक नहीं। वैयक्तिक जीवन के नैतिक स्तर का विकास लोकजीवन या सामुदायिक जीवन की प्राथमिकता है। महावीर सामाजिक-सुधार और सामाजिक-सेवा की आवश्यकता तो मानते थे किन्तु वे व्यक्ति-सुधार से समाज-सुधार की दिशा में बढ़ना चाहते थे। व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है, वह सुधरेगा तो ही समाज सुधरेगा। व्यक्ति के नैतिक विकास के परिणामस्वरूप जो सामाजिक जीवन फलित होगा, वह सुव्यवस्था और शान्ति से युक्त होगा, उसमें संघर्ष और तनाव का अभाव होगा। जब तक व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति नहीं आती, तब तक सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती। अपने व्यक्तिगत जीवन का शोधन करने के लिये राग-द्वेष के मनोविकारों और असत्कर्मों से निवृत्ति आवश्यक है। जब व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति आयेगी, तो जीवन पवित्र और निर्मल होगा, अंतःकरण विशुद्ध होगा और तब जो भी सामाजिक प्रवृत्ति फलित होगी वह लोकहितार्थ और लोकमंगल के लिये होगी। जब तक व्यक्तिगत जीवन में संयम और निवृत्ति के तत्त्व नहीं होंगे, तब तक सच्चा सामाजिक जीवन फलित ही नहीं होगा। जो व्यक्ति अपने स्वार्थों और अपनी वासनाओं का नियंत्रण नहीं कर सकता, वह कभी सामाजिक हो ही नहीं सकता। उपाध्याय अमरमुनि के शब्दों में जैनदर्शन की निवृत्ति का मर्म यही है कि व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति और सामाजिक जीवन में प्रवृत्ति। लोकसेवक या जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थों एवं द्वन्द्वों से दूर रहे, यह जैन दर्शन की आचार-संहिता का पहला पाठ है[२] अपने व्यक्तिगत जीवन में मर्यादाहीन भोग और आकांक्षाओं से निवृत्ति लेकर ही समाज-कल्याण के लिये प्रवृत्त होना जैनदर्शन का पहला नीति धर्म है।' सामाजिक नैतिकता और व्यक्तिगत नैतिकता परस्पर विरोधी नहीं हैं। बिना व्यक्तिगत नैतिकता को उपलब्ध किये सामाजिक नैतिकता की दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। चरित्रहीन व्यक्ति सामाजिक जीवन के लिये घातक ही होगा। अतः हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन में निवृत्ति का जो स्वर मुखर हुआ है, वह समाजविरोधी नहीं है, वह सच्चे अर्थों में सामाजिक जीवन का साधक है। चरित्रवान् व्यक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठे हुए व्यक्ति ही किसी आदर्श-समाज का निर्माण कर सकते हैं। वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के निमित्त जो संगठन या समुदाय बनते हैं, वे सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि नहीं हैं। क्या चोर, डाकू और शोषकों का समाज, समाज कहलाने का अधिकारी है? समाज जीवन की प्राथमिक आवश्यकता है। व्यक्ति अपने और पराये के भाव से तथा अपने व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठे, चूंकि जैन नीति-दर्शन हमें इन्हीं तत्त्वों की शिक्षा देता हैं, अतः वह सच्चे अर्थों में सामाजिक है, असामाजिक नहीं है। जैन दर्शन का निवृत्तिपरक होना सामाजिक विमुखता का सूचक नहीं है। अशुभ से निवृत्ति ही शुभ में प्रवृत्ति का साधन बन सकती है। महावीर की नैतिक शिक्षा का सार यही है। वे 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहते हैं-एक ओर से निवृत्त होओ और एक ओर प्रवृत्त होओ। असंयम से निवृत्त होओ, संयम में प्रवृत्त होओ।[३] वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति ही सामाजिक प्रवृत्ति का आधार है। संयम ही सामाजिक जीवन का आधार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वहित और लोकहित के सन्दर्भ में जैन-दृष्टि

यद्यपि जैन दर्शन में आत्मकल्याण और वैयक्तिक मुक्ति को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। किन्तु इस आधार पर भी उसे असामाजिक नहीं कहा जा सकता है। जिस करुणा और लोकहित की अनुपम भावना से अर्हत्-प्रवचन का प्रस्फुटन होता है, उसे नहीं झुठलाया जा सकता है।

जैनाचार्य समन्तभद्र जिन-स्तुति करते हुए कहते हैं—भगवन! आपकी यह संघ (समाज) व्यवस्था सभी प्राणियों के सर्व दुःखों का अन्त करनेवाली और सबका कल्याण (सर्वोदय) करने वाली है।[४] इससे बढ़कर लोक-आदर्श और लोकमंगल की कामना क्या हो सकती है? प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है— भगवान् का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिये है।[५] जैन-साधना लोकमंगल की धारणा को लेकर ही आगे बढ़ती है। उसी सूत्र में आगे यह भी बताया गया है कि जैन साधना के पाँचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिये ही हैं।[६] अहिंसा-विवेचना करते हुए कहा गया है कि साधना के प्रथम स्थान पर स्थित यह अहिंसा सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।[१] यह भगवती अहिंसा प्राणियों के लिये निर्बाघ रूप से हितकारिणी है। यह प्यासों को पानी के समान, भूखों को भोजन के समान, समुद्र में जहाज के समान, रोगियों के लिए ओषधि के समान और अटवी में सहायक के समान है'।[८] तीर्थङ्कर नमस्कारसूत्र (नमोत्थुणं) में तीर्थंकर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप, अभय के दाता आदि जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है वे भी जैन दृष्टि की लोक मंगलकारी भावना को स्पष्ट करते हैं। तीर्थंकरों का प्रवचन एवं धर्म-प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, न कि पूजा या सत्कार के लिए।[९] यदि ऐसा माना जाय कि जैन साधना केवल आत्महित या आत्म-कल्याण की बात कहती है तो फिर तीर्थंकर के द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन या संघ-संचालन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता; क्योंकि कैवल्य की उपलब्धि के बाद उन्हें अपने कल्याण के लिए कुछ करना शेष ही नहीं रहता है। अत: मानना पड़ेगा कि जैनसाधना का आदर्श मात्र आत्मकल्याण ही नहीं, वरन् लोककल्याण भी है।

जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित की श्रेष्ठता को सदैव ही महत्त्व दिया है। जैन विचारणा के अनुसार साधना की सर्वोच्च उँचाई पर स्थित सभी जीवन्मुक्त आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से यद्यपि समान ही होते हैं, फिर भी जैन विचारकों ने उनकी आत्महितकारिणी और लोकहितकारिणी दृष्टि के तारतम्य को लक्ष्य में रखकर उनमें उच्चावच्च अवस्था को स्वीकार किया है। एक सामान्य केवली (जीवन्मुक्त) और तीर्थंकर में आध्यात्मिक पूर्णताएँ तो समान ही होती हैं, फिर भी तीर्थंकर को उसकी लोकहित की दृष्टि के कारण सामान्य केवली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेने वाले व्यक्तियों के, उनकी लाकोपकारिता के आधार पर, तीन वर्ग होते हैं- १.तीर्थंकर, २.गणधर और ३.सामान्य केवली।

१. तीर्थंकर—तीर्थंकर वह है जो सर्वहित के संकल्प को लेकर साधना मार्ग में आता हैं और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी लोकहित में लगा रहता है। सर्वहित, सर्वोदय और सर्वलोक का कल्याण ही उसके जीवन का ध्येय बन जाता हैं।[१०]

२. गणधर— सहवर्गीय हित के संकल्प को लेकर साधना-क्षेत्र में प्रविष्टि पानेवाले और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी सहवर्गियों के हित एवं कल्याण के लिये प्रयत्नशील रहनेवाले साधक गणधर कहलाते हैं। समूह-हित या गण-कल्याण गणधर के जीवन का ध्येय होता है।[११]

३. सामान्य केवली—अत्मकल्याण को ही जिसने अपनी साधना का ध्येय बनाया है और जो इसी आधार पर साधना मार्ग में प्रवृत्त होता हुआ आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि करता है, वह सामान्य केवली कहलाता है।[१२]

साधारण रूप में विश्व-कल्याण, वर्ग-कल्याण और वैयक्तिक-कल्याण की भावनओं को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही साधकों की ये कक्षाएँ निर्धारित की गई हैं। जिनमें विश्वकल्याण के लिए प्रवृत्ति करने के कारण ही तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। जिस प्रकार बौद्ध विचारणा में बोधिसत्व और अर्हत के आदर्शों में भिन्नता है, उसी प्रकार जैन साधना में तीर्थंकर और सामान्य केवली के आदर्शों में तारतम्य है।

इन सबके अतिरिक्त जैन साधना में संघ (समाज) को सर्वोपरि माना गया है। संघहित समस्त वैयक्तिक साधनाओं से भी ऊपर है, विशेष परिस्थितियों में तो संघ के कल्याण के लिये वैयक्तिक साधना का परित्याग करना भी आवश्यक माना गया है। जैन साहित्य में आचार्य भद्रबाहु एवं कालक की कथा इसका उदाहरण है।[१३]

स्थानांगसूत्र में जिन दस धर्मो (कर्तव्यों)[१४] का निर्देश दिया गया है, उनमें संघधर्म, गणधर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म और कुलधर्म की उपस्थिति इस बात का सबल प्रमाण है कि जैन दृष्टि न केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक सीमित है, वरन् उसमें लोकहित या लोक-कल्याण का अजस्र प्रवाह भी प्रवाहित हो रहा है।

यद्यपि जैनाचारदर्शन लोकहित, लोकमगल की बात कहता है, लेकिन उसकी एक शर्त है कि परार्थ के लिये स्वार्थ का विसर्जन किया जा सकता है, लेकिन आत्मार्थ का नहीं। उसके अनुसार वैयक्तिक भौतिक उपलब्धियों को लोक-कल्याण के लिये समर्पित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए, क्योंकि वे हमें जगत् से ही मिली हैं वे वस्तुत: संसार की हैं, हमारी नहीं, सांसारिक उपलब्धियाँ संसार के लिए हैं, अतः उनका लोकहित के लिये विसर्जन किया जाना चाहिए। लेकिन उसे यह स्वीकार नहीं है कि आध्यात्मिक विकास या वैयक्तिक नैतिकता को लोकहित के नाम पर कुंठित किया जाये। ऐसा लोकहित, जो व्यक्ति के चरित्र के पतन अथवा आध्यात्मिक कुंठन से फलित होता हो, उसे स्वीकार नहीं है। लोकहित और आत्महित के संदर्भ में उसका स्वर्णिम सूत्र है 'आत्महित करो और यथाशक्ति लोकहित भी करो, लेकिन जहाँ आत्महित और लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित के कुंठन पर ही लोकहित फलित होता हो तो वहाँ आत्मकल्याण ही श्रेष्ठ है।[१५]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्महित स्वार्थ ही नहीं है — यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैन धर्म का यह आत्महित स्वार्थवाद नहीं है। आत्म-काम वस्तुत: निष्काम होता है, क्योंकि उसकी कोई कामना नहीं होता है, अत: उसका स्वार्थ भी नहीं होता है। आत्मार्थी कोई भौतिक उपलब्धि नहीं चाहता है। वह तो उनका विसर्जन करता है। स्वार्थी तो वह है जो यह चाहता है कि सभी उसकी भौतिक उपलब्धियों के लिये कार्य करें। स्वार्थ और आत्मकल्याण में मौलिक अन्तर यह है कि स्वार्थ की साधना में राग और द्वेष की वृत्तियाँ काम करती हैं। जबकि आत्मकल्याण का प्रारम्भ ही राग-द्वेष की वृत्तियों की क्षणिकता से होता है। राग-द्वेष से युक्त होकर आत्मकल्याण की सम्भावना ही नहीं रहती। यथार्थ आत्महित में रागद्वेष का अभाव है। स्वार्थ और परार्थ में संघर्ष की सम्भावना भी तभी तक है जबतक उनमें कहीं राग-द्वेष की वृत्ति निहित हो। रागदि भाव या स्वहित की वृत्ति से किया जानेवाला परार्थ भी सच्चा लोकहित नहीं है, वह तो स्वार्थ ही है। जिस प्रकार शासन के द्वारा नियुक्त एवं प्रेरित समाज-कल्याण-अधिकारी वस्तुतः लोकहित का कर्त्ता नहीं है, वह तो वेतन के लिए लोकहित करता है। उसी प्रकार राग से प्रेरित होकर लोकहित करने वाला भी सच्चे अर्थों में लोकहित का कर्त्ता नहीं है, उसके लोकहित के प्रयत्न राग की अभिव्यक्ति, प्रतिष्ठा की रक्षा, यश: अर्जन की भावना या भावी-लाभ की प्राप्ति के हेतु ही होते हैं। ऐसा परार्थ वस्तुतः स्वार्थ ही है। सच्चा आत्महित और सच्चा लोकहित, राग-द्वेष से शून्य अनासक्ति की भूमि पर प्रस्फुटित होता है लेकिन उस अवस्था में न तो अपना रहता है न पराया क्योंकि जहाँ राग है वहीं 'मेरा है' और जहाँ मेरा हैं वहीं पराया है। राग की शून्यता होने पर अपने और पराये का विभेद ही समाप्त हो जाता है। ऐसी राग-शून्यता की भूमि पर स्थित होकर किया जाने वाला आत्महित भी लोकहित होता है और लोकहित आत्महित होता है। दोनों में कोई संघर्ष नहीं है, कोई द्वैत नहीं है। उस दशा में तो सर्वत्र आत्म-दृष्टि होती है जिसमें न कोई अपना है, न कोई पराया है। स्वार्थ-परार्थ जैसी समस्या यहाँ रहती ही नहीं है।

जैन विचारणा के अनुसार स्वार्थ और परार्थ के मध्य सभी अवस्थाओं में संघर्ष रहे, यह आवश्यक नहीं। व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे स्वार्थ एवं परार्थ का संघर्ष भी समाप्त होता जाता है। जैन विचारकों ने परार्थ या लोकहित के तीन स्तर माने हैं।

१.द्रव्य लोकहित, २.भाव लोकहित और ३.पारमार्थिक लोकहित।

१.द्रव्य लोकहित[१]- यह लोकहित का भौतिक स्तर है। भौतिक उपादानों जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि तथा शारीरिक सेवा के द्वारा लोकसेवा करना द्रव्य लोकहित है। यह दान और सेवा का क्षेत्र है। पुण्य के नव प्रकारों में आहारदान, वस्त्रदान, औषधिदान आदि का उल्लेख यह बताता है कि जैनदर्शन दान और सेवा के दर्शन को स्वीकार करता है। तीर्थंकर द्वारा दीक्षा के पूर्व दिया जाने वाला दान जैन-दर्शन में सामाजिक सेवा और सहयोग का क्या स्थान है, इसे स्पष्ट कर देता है। मात्र यहीं नहीं, महावीर से जब यह पूछा गया था कि आपकी भक्ति करने वाले तथा वृद्ध, ग्लान एवं रोगी की सेवा करने वाले में कौन श्रेष्ठ है? तो महावीर का उत्तर था कि सेवा करने वाला ही श्रेष्ठ है। जैन समाज के द्वारा आज भी जन-सेवा और प्राणी-सेवा के जो अनेक कार्य किये जा रहे हैं, वे इसके प्रतीक हैं। फिर भी यह एक ऐसा स्तर है जहाँ हितों का संघर्ष होता है। एक का हित दूसरे के अहित का कारण बन जाता है। अतः द्रव्य लोकहित एकान्त रूप से आचरणीय भी नहीं कहा जा सकता है। यह सापेक्ष नैतिकता का क्षेत्र है। भौतिक स्तर पर स्वहित की पूर्णतया उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है। यहां तो स्वहित और परहित में उचित समन्वय बनाना, यही अपेक्षित है। पाश्चात्य नैतिक विचारणा के परिष्कारित स्वार्थवाद, बौद्धिक परार्थवाद और सामान्य शुभतावाद का विचार-क्षेत्र लोकहित का यह भौतिक स्वरूप ही है।

२. भाव लोकहित[१७]- यह लोकहित भौतिक स्तर से ऊपर स्थित है, यहाँ पर लोकहित के जो साधन हैं वे ज्ञानात्मक या चैतसिक होते हैं। इस स्तर पर परार्थ और स्वार्थ में संघर्ष की सम्भावना अल्पतम होती है। मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ की भावनाएं इस स्तर को अभिव्यक्ति करती हैं।

३. पारमार्थिक लोकहित— यह लोकहित का सर्वोच्च स्तर है, जहां स्वहित और परहित में कोई संघर्ष नहीं रहता, द्वैत नहीं रहता। यहां पर लोकहित का रूप होता है— यथार्थ जीवनदृष्टि के सम्बन्ध में मार्गदर्शन। यहाँ इसका रूप स्वयं अहित नहीं करना और अहित करने वाले का हृदय-परिवर्तन कर उसे सामाजिक अहित से विमुख करना है।

युगीन सामाजिक परिस्थितियों में जैन नीतिदर्शन का योगदान

जैन आचार-दर्शन ने न केवल अपने युग की समस्याओं का समाधान किया है वरन् वह वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान में भी पूर्णतया सक्षम है। वस्तुस्थिति यह है कि चाहे प्राचीन युग हो या वर्तमान युग, मानव जीवन की समस्यायें सभी युगों में लगभग समान रही हैं। मानव जीवन की समस्याएँ विषमता-जनित है। वस्तुत: विषमता ही समस्या है और समता ही समाधान हैं। ये विषमताएँ अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती हैं। प्रमुख रूप से वर्तमान मानव जीवन की विषमताएँ निम्न हैं— १. सामाजिक वैषम्य, २. आर्थिक वैषम्य, ३. वैचारिक वैषम्य और ४. मानसिक वैषम्य। अब हमें विचार यह करना है कि क्या जैन आचार दर्शन इन विषमताओं का निराकरण कर समत्व का संस्थापन करने में समर्थ है? नीचे हम प्रत्येक प्रकार की विषमताओं के कारणों का विश्लेषण और जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत उनके समाधानों पर विचार करेंगे।

१. सामाजिक विषमता— व्यक्ति को चेतन जगत् के अन्य प्राणियों के साथ जीवन जीना होता है। यह सामुदायिक जीवन है। सामुदायिक जीवन का आधार सम्बन्ध है और नैतिकता उस सम्बन्धों की शुद्धि का विज्ञान है। पारस्परिक सम्बन्ध निम्न प्रकार के हैं— १. व्यक्ति और परिवार, २. व्यक्ति और जाति, ३. व्यक्ति और समाज,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. व्यक्ति और राष्ट्र, ५. व्यक्ति और विश्व। इन सम्बन्धों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग-भावना ही काम करती है। सामान्यतया राग-द्वेष का सहगामी होता है। जब तक सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़ा होता है, तब तक इन सम्बन्धों में विषमता स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहती है। जब राग का तत्त्व द्वेष का सहगामी होकर काम करने लगता है तो पारस्परिक सम्बन्धों में संघर्ष और टकराहट प्रारम्भ हो जाती है। राग के कारण 'मेरा' या ममत्व का भाव उत्पन्न होता है। मेरे सम्बन्धी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र, ये विचार विकसित होते हैं। परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, सांप्रदायिकता और राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज के हमारे सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही तत्त्व सबसे अधिक बाधक हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठने नहीं देते हैं। यही आज की सामाजिक-विषमता के मूल कारण हैं।

अनैतिकता का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर-व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते है, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है। हम अपनी रागात्मकता या ममत्व वृत्ति का पूर्णतया विसर्जन किये बिना अपेक्षित नैतिक एवं सामाजिक जीवन का विकास नहीं कर सकते। व्यक्ति का 'स्व' चाहे वह व्यक्तिगत-जीवन या पारिवारिक-जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वार्थवृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से नैतिकता एवं सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा नैतिक एवं सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। मुनि नथमलजी लिखते हैं कि 'परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप जैसे जाति या राष्ट्र के प्रति बरती जाने वाली अनैतिकता का नियमन नहीं करता, वैसे ही जाति या राष्ट्र के प्रति ममत्व अन्तरराष्ट्रीय अनैतिकता का नियामक नहीं होता। मुझे लगता है कि राष्ट्रीय अनैतिकता की अपेक्षा अन्ताराष्ट्रीय अनैतिकता कहीं अधिक है। जिन राष्ट्रों में व्यावहारिक सच्चाई है, प्रामाणिकता है, वे भी अन्ताराष्ट्रीय क्षेत्र में सत्य-निष्ठ और प्रामाणिक नहीं हैं।[१८] इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का जीवन जब तक राग या ममत्व से ऊपर नहीं उठता, तब तक नैतिकता का सद्भाव सम्भव ही नहीं होता। रागयुक्त नैतिकता, चाहे उसका आधार राष्ट्र ही क्यों न हो, सच्चे अर्थों में नैतिक नहीं हो सकती। सच्चा नैतिक जीवन वीतराग अवस्था में ही सम्भव हो सकता है और जैन आचार दर्शन इसी वीतराग जीवन दृष्टि को ही अपनी नैतिक साधना का आधार बनाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह सामाजिक जीवन के लिए एक वास्तविक आधार प्रस्तुत करता है। यही एक ऐसा आधार है जिस पर सामाजिक नैतिकता को खड़ा किया जा सकता है और सामाजिक जीवन के वैषम्यों को समाप्त किया जा सकता है। सराग नैतिकता कभी भी सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण नहीं कर सकती है। स्वार्थों के आधार पर खड़ा सामाजिक जीवन अस्थायी ही होगा।

दूसरे इस सामाजिक सम्बन्ध में व्यक्ति का अहं-भाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं। इनके कारण भी सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता के मूल में यही कारण है। वर्तमान युग में बड़े राष्ट्रों में जो अपने प्रभावक क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतंत्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में होता है। जब व्यक्ति में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना होती है तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है। जैन आचार दर्शन अहं के प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक जीवन में परतंत्रता को समाप्त करता है। दूसरी ओर जैन दर्शन का अहिंसा सिद्धांत भी सभी प्राणियों के समान अधिकारों को स्वीकार करता है। अधिकारों का हनन एक प्रकार की हिंसा है। अत: अहिंसा का सिद्धांत स्वतंत्रता के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध आचार दर्शन जहाँ एक ओर अहिंसा के सिद्धांत के आधार पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं, वहीं दूसरी ओर वर्णभेद, जातिभेद एवं ऊँच-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता के कारणों का विश्लेषण करें तो यह पाते हैं कि उसके मूल में रागात्मकता ही है। यही राग एक ओर अपने और पराये के भेद को उत्पन्न कर सामाजिक सम्बन्धों को अशुद्ध बनाता है तथा दूसरी ओर अहं भाव का प्रत्यय उत्पन्न कर सामाजिक जीवन में ऊंच नीच की भावनाओं का निर्माण करता है। इस प्रकार राग का तत्त्व ही मान के रूप में एक दूसरी दिशा ग्रहण कर लेता है जो सामाजिक विषमता को उत्पन्न करता है। यही राग की वृत्ति ही संग्रह (लोभ) और कपट की भावनाओं को भी विकसित करती है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में विषमता के उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण होते हैं— १. संग्रह (लोभ) २. आवेश (क्रोध) ३. गर्व (बड़ा मानना) और ४. माया (छिपाना)। जिन्हें चार कषाय कहा जाता है। ये ही चारों अलग-अलग रूप में सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। १. संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रमाणिकता, स्वार्थपूर्ण-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं। २. आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध, आक्रमण एवं हत्याएँ आदि होते हैं। ३. गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार और क्रूर व्यवहार होता है। ४. इसी प्रकार माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है।[१९] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में जिन्हें चार कषाय कहा जाता है, उन्हीं के कारण सारा सामाजिक जीवन दूषित होता है। जैन दर्शन इन्हीं कषायों के निरोध को अपनी नैतिक साधना का आधार बनाता है। अत: यह कहना उचित ही होगा कि जैन दर्शन अपने साधना मार्ग के रूप में सामाजिक विषमताओं को समाप्त कर, सामाजिक-समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. आर्थिक वैषम्य—आर्थिक वैषम्य व्यक्ति और भौतिक जगत के सम्बन्धों से उत्पन्न हुई विषमता है। चेतना का जब भौतिक जगत से सम्बन्ध होता है तो उसे अनेक वस्तुएँ अपने प्राणमय जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। यही आवश्यकता जब आसक्ति में बदल जाती है तो एक ओर संग्रह होता जाता है, दूसरी ओर संग्रह की लालसा बढ़ती जाती है, इसीसे सामाजिक जीवन में आर्थिक विषमता के बीज का वपन होता है। जैसे-जैसे एक ओर संग्रह बढ़ता है, दूसरी ओर गरीबी बढ़ती है और परिणामस्वरूप आर्थिक वैषम्य बढ़ता जाता है। आर्थिक वैषम्य के मूल में संग्रह भावना ही अधिक है। कहा यह जाता है कि अभाव के कारण संग्रह की चाह उत्पन्न होती है लेकिन वस्तुस्थिति कुछ और ही है। स्वाभाविक अभाव की पूर्ति सम्भव है और शायद विज्ञान हमें इस दिशा में सहयोग दे सकता है लेकिन कृत्रिम अभाव की पूर्ति सम्भव नहीं। उपाध्याय अमरमुनि जी लिखते है कि "ग़रीबी स्वयं में कोई समस्या नहीं, किन्तु पहाड़ों की असीम ऊंचाईयों ने इस धरती पर जगह-जगह गड्ढे पैदा कर दिये हैं। पहाड़ टूटेंगे, तो गड्ढे अपने आप भर जायेंगे, सम्पत्ति का विसर्जन होगा, तो गरीबी अपने आप दूर हट जाएगी।"[२०] वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति में परिग्रह के विसर्जन की भावना उद्भूत हो। परिग्रह के विसर्जन से ही आर्थिक वैषम्य समाप्त किया जा सकता है। जब तक संग्रह की वृत्ति समाप्त नहीं होती, आर्थिक-समता नहीं आ सकती।

आर्थिक-वैषम्य का निराकरण असंग्रह की वृत्ति से ही सम्भव है और जैन दर्शन अपने अपरिग्रह के सिद्धांत के द्वारा इस आर्थिक वैषम्य के निराकरण का प्रयास करता है। जैन आचार दर्शन में गृहस्थ जीवन के लिये भी जिस परिग्रह एवं उपभोग-परिभोग के सीमांकन का विधान किया गया है, वह आर्थिक वैषम्य के निराकरण का एक प्रमुख साधन हो सकता है। आज हम जिस समाजवाद एवं साम्यवाद की चर्चा करते हैं, उसका दिशा-संकेत महावीर ने अपने व्रत-विधान में किया था। जैन दर्शन सम्पदा के उत्पादन पर नहीं, अपितु उसके अपरिमित संग्रह और उपभोग पर नियंत्रण लगाता है।

आर्थिक वैषम्य का निराकरण अनासक्ति और अपरिग्रह की साधना के द्वारा ही संभव है। यदि हम सामाजिक जीवन में आर्थिक समानता की बात करना चाहते हैं तो हमें व्यक्तिगत उपभोग एवं सम्पत्ति की सीमा का निर्धारण करना ही होगा। परिग्रह का विसर्जन ही आर्थिक जीवन में समत्व का सृजन कर सकता है। जैन दर्शन का अपरिग्रह सिद्धांत इस संबंध में पर्याप्त सिद्ध होता है। वर्तमान युग में मार्क्स ने आर्थिक वैषम्य को दूर करने का जो सिद्धांत साम्यवादी समाज के रचना के रूप में प्रस्तुत किया, वह यद्यपि आर्थिक विषमताओं के निराकरण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, लेकिन उसकी मूलभूत कमी यही है कि वह मानव समाज पर ऊपर से थोपा जाता है, उसके अन्तः से सहज उभारा नहीं जाता है। जिस प्रकार बाह्य दबावों से वास्तविक नैतिकता प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार केवल कानून के बल पर लाया गया आर्थिक साम्य सच्चे आर्थिक समत्व का प्रकटन नहीं करता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य में स्वतः ही त्याग की वृत्ति का उदय हो और वह स्वेच्छा से ही सम्पत्ति के विसर्जन की दिशा में आगे आवे। भारतीय परंपरा और विशेषकर जैन परंपरा न केवल सम्पत्ति के विसर्जन की बात करती है वरन् उसके सम-वितरण पर भी जोर देती है। हमारे प्राचीन साहित्य में दान के स्थान पर संविभाग शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है। जो यह बताया है कि जो कुछ हमारे पास है, उसका समविभावजन करना है। महावीर का यह उद्‌घोष कि 'असंविभागी णहु तस्स मोक्खो' स्पष्ट बताता है कि जैन आचार दर्शन आर्थिक विषमता के निराकरण के लिये समवितरण की धारणा को प्रतिपादित करता है। जैन दर्शन के इन सिद्धांतों को यदि उन्हें युगीन सन्दर्भों में नवीन दृष्टि से उपस्थित किया जाय तो समाज की आर्थिक समस्याओं का निराकरण खोजा जा सकता है।

वर्तमान युग में भ्रष्टाचार के रूप में समाज के आर्थिक क्षेत्र में जो बुराई पनप रही है, उसके मूल में भी या तो व्यक्ति की संग्रहेच्छा है या भोगेच्छा। भ्रष्टाचार केवल अभावजनित बीमारी नहीं है, वरन् वह एक मानसिक बीमारी है, जिसके मूल में संग्रहेच्छा एवं भोगेच्छा के कीटाणु हैं। वस्तुतः वह आवश्यकताओं के कारण नहीं वरन् तृष्णा के कारण उत्पन्न होती है। आवश्यकताओं का निराकरण पदार्थों को उपलब्ध करके किया जा सकता है, लेकिन इस तृष्णा का निराकरण पदार्थों के द्वारा संभव नहीं है। इसलिए जैन दर्शन ने अनासक्ति की वृत्ति को नैतिक जीवन में प्रमुख स्थान दिया है। तृष्णाजनित विकृतियाँ केवल अनासक्ति द्वारा ही दूर की जा सकती हैं। हमारे वर्तमान युग की प्रमुख कठिनाई यह नहीं है कि हमें सामान्य जीवन जीने के साधन उपलब्ध नहीं हैं अथवा उनका अभाव है, वरन् कठिनाई यह है कि आज का मानव तृष्णा से इतना अधिक ग्रसित है कि वह एक अच्छा सुखद एवं शांतिपूर्ण जीवन नहीं जी सकता है। मनुष्य की वासनाएँ ही उसे अच्छे जीवन जीने में बाधक हैं। यदि किसी सीमा तक हम यह भी मान लें कि अभाव के कारण आर्थिक-भ्रष्टाचार का जन्म होता है तो जहाँ तक कृत्रिम अभाव का प्रश्न है वह कुल व्यक्तियों के द्वारा किये गये अवैध संग्रह का परिणाम है। किन्तु जैन नीति दर्शन ने गृहस्थ साधक के अनर्थदण्ड-विरमण व्रत में उपभोग के पदार्थों के अनावश्यक संग्रह को निषिद्ध ठहराया है। यदि अभाव वास्तविक हो तो उसे उपभोग का नियंत्रण करके दूर किया जा सकता है जिसके लिए उपभोग-परिभोग मर्यादा नामक व्रत का विधान है। इस प्रकार जैन दर्शन परिग्रह और उपभोग के परिसीमन के द्वारा समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता की समाप्ति का सूत्र प्रस्तुत करता है।

३. वैचारिक-वैषम्य—विभिन्न वाद और उनके कारण उत्पन्न वैचारिक-संघर्ष भी सामाजिक जीवन का एक बड़ा अभिशाप है। वर्तमान युग में राष्ट्रों के जो संघर्ष हैं, उनके मूल में आर्थिक और राजनैतिक प्रश्न इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि वैचारिक साम्राज्यवाद की स्थापना। वर्तमान युग में न तो राजनैतिक अधिकार लिप्सा से उत्पन्न साम्राज्यवाद की भावना पाई जाती है और न आर्थिक साम्राज्यों की स्थापना का प्रश्न ही महत्त्वपूर्ण है, वरन् वर्तमान युग में बड़े राष्ट्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने वैचारिक साम्राज्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं। जैन आचार दर्शन अपने अनेकान्तवाद और अनाग्रह के सिद्धांत के आधार पर इन वैचारिक संघर्षों का निराकरण प्रस्तुत करता है। अनेकांत का सिद्धांत वैचारिक-आग्रह के विसर्जन की बात करता है और वैचारिक क्षेत्र में दूसरे के विचारों एवं अनुभूतियों को भी उतना ही महत्त्व देता है, जितना कि स्वयं के विचारों एवं अनुभूतियों को।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की विषमताएँ हमारे सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं। जैन आचार दर्शन उपर्युक्त तीनों विषमताओं के निराकरण के लिए अपने आचार दर्शन में तीन सिद्धांत प्रस्तुत करता है। सामाजिक वैषम्य के निराकरण के लिये उसने अहिंसा एवं सामाजिक समता का सिद्धांत प्रस्तुत किया हैं। आर्थिक वैषम्य के निराकरण के लिए उसने परिग्रह एवं उपभोग के परिसीमन का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार बौद्धिक एवं वैचारिक संघर्षों के निराकरण के लिए अनाग्रह और अनेकांत के सिद्धांत प्रस्तुत किये गये हैं। ये सिद्धांत क्रमशः सामाजिक समता, आर्थिक समता और वैचारिक समता की स्थापना करते हैं। लेकिन ये सभी नैतिकता के बाह्य एवं सामाजिक आधार हैं। नैतिकता का आन्तरिक आधार तो हमारा मनोजगत् ही है। जैन आचार दर्शन मानसिक तनावों एवं विक्षोभों के निराकरण के लिये भी विशेष रूप से विचार करता है क्योंकि यदि व्यक्ति का मानस विक्षोभ एवं तनावयुक्त है तो सामाजिक जीवन भी अशांत होगा।

४. मानसिक-वैषम्य—मानसिक वैषम्य मनोजगत् में तनाव की अवस्था का सूचक है। जैन आचार दर्शन ने राग-द्वेष एवं चतुर्विध कषायों को मनोजगत् के वैषम्य का मूल कारण माना है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों आवेग या कषाय हमारे मानसिक समत्व को भंग करते हैं। यदि हम व्यक्तिगत जीवन के विघटनकारी तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करें तो हम उनके मूल में कहीं न क़हीं जैन दर्शन में प्रस्तुत कषायों एवं नौ-कषायों (आवेगों और उप-आवेगों) की उपस्थिति ही पाते हैं। जैन आचार दर्शन कषाय-त्याग के रूप में हमें मनोजगत् के तनावों के निराकरण का संदेश देता है। वह बताता है कि हम जैसे-जैसे इन कषायों के ऊपर विजय-लाभ करते हुए आगे बढ़ेंगे वैसे ही हमें व्यक्तित्व की पूर्णता का प्रकटन भी होगा। जैन दर्शन में साधकों की चार श्रेणियाँ मानी गई हैं, जो इन पर क्रमिक विजय को प्रकट करती हैं। इनके प्रथम तीव्रतम रूप पर विजय पाने पर साधक में सम्यक् दृष्टिकोण का उद्भव होता है। द्वितीय मध्यम रूप पर विजय प्राप्त करने से साधक श्रावक या गृहस्थ-उपासक की श्रेणी में जाता है। तृतीय रूप पर विजय करने पर वह श्रमणत्व का लाभ करता है और उनके सम्पूर्ण विजय पर वह आत्मपूर्णता को प्रकट कर लेता है। कषायों की पूर्ण समाप्ति पर एक पूर्ण व्यक्तित्व का प्रकटन हो जाता है। इस प्रकार जैन आचार दर्शन राग-द्वेष एवं कषाय के रूप में हमारे मानसिक तनावों का कारण प्रस्तुत करता है और कषाय-जय के रूप में मानसिक-समता के निर्माण की धारणा को स्थापित करता है।

प्रत्येक व्यक्ति यह अपेक्षा करता है कि उसका जीवन शान्त एवं सुखी हो। लेकिन मानव मन की अशान्ति एवं उसके अधिकांश दुःख कषाय चतुष्क-जनित हैं। अतः शान्त और सुखी जीवन के लिये मानसिक तनावों एवं मनोवेगों से मुक्ति पाना आवश्यक है। क्रोधादि कषायों पर विजय लाभ करके समत्व के सृजन के लिये हमें मनोवेगों से ऊपर उठना होगा। जैसे-जैसे हम मनोवेगों या कषाय चतुष्क से ऊपर उठेंगे वैसे-वैसे सच्ची शान्ति का लाभ प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार दर्शन सामाजिक जीवन से विषमताओं के निराकरण और समत्व के सृजन के लिए एक ऐसी आचार विधि प्रस्तुत करता है जिसके सम्यक् परिपालन से सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही जीवन में सच्ची शान्ति और वास्तविक सुख का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। उसने सामाजिक जीवन में सम्बन्धों के शुद्धिकरण पर अधिक बल दिया है। यही कारण है कि उसके द्वारा प्रस्तुत सामाजिक आदेश अपनी प्रकृति में निषेधात्मक अधिक प्रतीत होते हैं यद्यपि विधायक सामाजिक आदेशों का उसमें पूर्ण अभाव नहीं है। उसके कुछ प्रमुख सामाजिक आदेश निम्न हैं—

निष्ठा सूत्र

१. सभी आत्मायें स्वरूपतः समान हैं, अतः सामाजिक जीवन में ऊँच-नीच के वर्गभेद या वर्णभेद खड़े मत करो।
२. सभी आत्मायें समान रूप से सुखाभिलाषी हैं, अतः दूसरे के हितों का हनन, शोषण या अपहरण करने का अधिकार किसी को नहीं है। सभी के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा तुम उनसे स्वयं के प्रति चाहते हो।
३. संसार में प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखो, किसी से भी घृणा एवं विद्वेष मत रखो।
४. गुणीजनों के प्रति आदर भाव और दुष्टजनों के प्रति उपेक्षा भाव रखो।
५. संसार में जो दुःखी एवं पीड़ित जन हैं, उनके प्रति करुणा और वात्सल्य भाव रखो और अपनी स्थिति के अनुरूप उन्हें सेवा और सहयोग प्रदान करो।

व्यवहार सूत्र

१. किसी निर्दोष-प्राणी को बन्दी मत बनाओ अर्थात् सामान्यजनों की स्वतंत्रता में बाधक मत बनो।
२. किसी का वध या अंगभेद मत करो, किसी से भी मर्यादा से अधिक काम मत लो।
३. किसी की आजीविका में बाधक मत बनो।
४. पारस्परिक विश्वास को भंग मत करो। न तो किसी की अमानत हड़पो और न तो किसी के रहस्यों को प्रकट करो।
५. सामाजिक जीवन में गलत सलाह मत दो, अफवाह मत फैलाओ और दूसरों के चरित्र-हनन का प्रयास मत करो।
६. अपने स्वार्थ की सिद्धि के हेतु असत्य घोषणा मत करो।
७. न तो स्वयं चोरी करो, न चोर को सहयोग दो, चोरी का माल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी मत खरीदो।

८. व्यवसाय के क्षेत्र में नाप तौल में अप्रमाणिकता मत रखो और वस्तुओं में मिलावट मत करो।

९. राजकीय नियमों का उल्लंघन और राज्य के करों का अपवंचन मत करो।

१०. अपने यौन सम्बन्धों में अनैतिक आचरण मत करो। परस्त्री-संसर्ग, वेश्यावृत्ति एवं वेश्यावृत्ति के द्वारा धन-अर्जन मत करो।

११. अपनी सम्पत्ति का परिसीमन करो और उसे लोकहितार्थ व्यय करो।

१२. अपने व्यवसाय के क्षेत्र को सीमित करो और वर्जित व्यवसाय मत करो।

१३. अपनी उपभोग सामग्री की मर्यादा क़रो और उसका अति-संग्रह मत करो।

१४. वे सभी कार्य मत करो, जिनसे तुम्हारा कोई हित नहीं होता है किन्तु दूसरों का अहित सम्भव हो अर्थात् अनावश्यक गपशप, परनिन्दा, काम-कुचेष्टा शस्त्र-संग्रह आदि मत करो।

१५. यथासम्भव अतिथियों की, संतजनों की, पीड़ित एवं असहाय व्यक्तियों की सेवा करो। अन्न, वस्त्र, आवास, औषधि आदि के द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करो।

१६. क्रोध मत करो, सबसे प्रेम-पूर्ण व्यवहार करो।

१७. अहंकार मत करो अपितु विनीत बनो, दूसरों का आदर करो।

१८. कपटपूर्ण व्यवहार मत करो वरन् व्यवहार में निश्छल एवं प्रामाणिक रहो।

१९. अविचारपूर्वक कार्य मत करो।

२०. तृष्णा मत रखो।

उपर्युक्त और अन्य कितने ही आचार नियम ऐसे हैं जो जैन नीति की सामाजिक सार्थकता को स्पष्ट करते हैं।[२१] आवश्यकता इस बात की है हम आधुनिक संदर्भ में उनकी व्याख्या एवं समीक्षा करें तथा उन्हें युगानुकूल बनाकर प्रस्तुत करें।

सन्दर्भ :

१. जैनधर्म का प्राण, पं०सुखलालजी, सस्ता साहित्य मण्डल, देहली, पृ० ५६-५९
२. अमरभारती, अप्रैल १९६६, पृ० २१
३. उत्तराध्ययन, ३१/२
४. सर्वोदय दर्शन, आमुख, पृ० ६ पर उद्धृत।
५. प्रश्नव्याकरणसूत्र २/१/२२
५. प्रश्नव्याकरण १/१/२१
७. वही, १/१/३
८. वही, १/२/२२
९. सूत्रकृतांग (टीका) १/६/४
१०. योगबिन्दु, आचार्य हरिभद्र, २८५-२८८
११. योगबिन्दु २८९
१२. योगबिन्दु २९०
१३. निशीथचूर्णि, सं० अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, भाष्य गा०, २८६०
१४. स्थानांग, १०/७६०
१५. उद्धृत, आत्मसाधना संग्रह, पृ० ४४१
१६. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० ६९७
१७. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० ६९७
१८. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृष्ठ ३-४
१९. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० २
२०. जैन प्रकाश, ८ अप्रैल १९६९, पृ० १
२१. देखिए- श्रावक के बारह व्रत, उनके अतिचार और मार्गानुसारी गुण।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org